

लोक नाट्य परंपरा में मुखौटा-कला और महापुरुष माधवदेव

डॉ. अमित सिंह

परंपरा का अवगाहन लोक बरक्स शास्त्र :

यह दुनिया एक रंगमंच है जहाँ प्रत्येक मनुष्य अपनी भूमिका अदा करता है। कला के क्षेत्र में नाटक और रंगमंच की दो धाराओं लोकधर्मी और नाट्यधर्मी की चर्चा नाट्यशास्त्र प्रणेता आचार्य भरतमुनि ने ही कर दी थी। लोक की परिधि व्यापक और गहरी है। लोक नाट्यपरंपरा भी व्यापकता और गहराई को साथ लेकर चली है, जिसमें जनमानस की आस्था, विश्वास, चिंता- चिंतन और लोकजीवन की विविध अनुभूतियों और परंपराओं का सन्निवेश निहित है। लोकजीवन के व्यापक जीवनानुभवों को अपने में समेटे लोक नाट्यपरंपरा के प्रचलन की भी एक विस्तृत एवं सुदीर्घ परंपरा विद्यमान है। कथ्य, शिल्प और प्रदर्शन तीनों ही स्तरों पर लोकनाट्य परंपरा की धारा जनमानस की उत्सवधर्मिता और लोकजीवन के परिवेश की विभिन्न छवियों को बखूबी अंकित, सृजित और प्रदर्शित करती है। संस्कृत की नाट्य परंपरा का अन्ययान्य कारणों से मध्ययुग में क्षीण पड़ जाना और वैष्णव आंदोलन का समूचे भारत में फैल जाना भी रंगमंच की परंपरा को बचाए रखने में मददगार साबित हुआ। इसके प्रभावस्वरूप धार्मिक स्थलों एवं मंदिरों में नृत्य-नाटकों के माध्यम से लोक नाटक के प्रचलन को बराबर बढ़ावा मिलता रहा। जहाँ एक ओर नाटक की शास्त्रीय परिपाटी क्षीण हुई वहीं उसकी लोक धारा प्रवाहित होती रही। ईसा पूर्व पहली शताब्दी से प्रचलित संस्कृत की शास्त्रीय नाट्य परंपरा के हास के कारणों में मुख्य रूप से "संस्कृत का आम बोलचाल की भाषा न रह जाना, नाटकों का मात्र राजप्रासादों तक सीमित होना, बौद्ध धर्म और जैन धर्म का लोकप्रिय मनोरंजन की निंदा करना और आगे चलकर मुस्लिम शासन द्वारा नाटकीय प्रदर्शनों का विरोध। संस्कृत नाट्यपरंपरा के इस हास के आधार पर यह कहा गया कि विधा के रूप में नाटक विलीन हो गया और कई शताब्दियों तक विलीन रहा। यह धारणा ठीक नहीं है। एक तो संस्कृत नाटकों के समानांतर लोकनाट्य की अखंड परंपरा चली आ रही थी, उसके कारण मध्ययुगीन शताब्दियों में नाटकीय प्रदर्शनों का आभाव नहीं रहा, दूसरे संस्कृत रंगमंच और नाटक की परंपरा समाप्त हो जाने पर नाट्यप्रवृत्ति की अभिव्यक्ति अनेक अर्धनाटकीय रूपों और माध्यमों में हुई, जिनकी रूढ़ियाँ पारंपरिक रंगमंच ने ग्रहण की ये इन अर्धनाटकीय रूपों का अस्तित्व संस्कृत नाटक के विकास के पहले से था।"¹

इस रूप में हम यह पाते हैं कि लोक उत्सवधर्मिता के कारण नाटकीय तत्व प्राचीनकाल से पाए जाते हैं और नाटक रंगमंच का पारंपरिक स्वरूप एक लंबी यात्रा के रूप में निरंतर विद्यमान रहा है। लोकजीवन के व्यवहार में वह बराबर बना रहा है। भारत भूमि विविधता में एकता की भूमि है। भौगोलिक साहित्यिक, कला और संस्कृति के स्तर पर हमारा देश विभिन्नता में बँटा होने पर भी हमारे पारस्परिक ताने-बाने के

रेशे आपस में जुड़े हुए हैं। लोक नाटकों की धुनें और विभिन्न लोक नाटकों के प्रचलन से भी यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि भारत भूमि उत्सवधर्मिता और सांस्कृतिक संगम के रूप में सदैव ज्ञान की भूमि रही है और रहेगी। हजारों वर्षों पूर्व नाटक-रंगमंच जैसी प्रदर्शनकारी कलाओं को लेकर नाट्यशास्त्र की रचना जिसमें रंगमंच के व्यापक शास्त्र को देखा जा सकता है स्वयंमेव हमारी कलात्मक अभिरुचि समझ की गत्यात्मकता को साबित करता है। सामाजिक जीवन, भूगोल-प्राकृतिक परिवेश और अपनी माटी की सौंधी महक को हम इन लोक नाटकों और उनके प्रदर्शन में बराबर महसूस कर सकते हैं। हमारी लोकनाट्य परंपरा मनोरंजन मात्र का साधन न रहकर एक सामाजिक संस्कार भी बनी है। लोक और शास्त्र की फॉक होने पर भी लोकनाट्य परंपरा की अजस्र धारा निरंतर प्रवाहमान रही है। विभिन्न क्षेत्रों और भाषाओं में बंटा होने पर भी भारतीय चिंतन-मनीषा के बीज सूत्र इसमें सर्वत्र मौजूद हैं। प्राचीन ज्ञान-विज्ञान का सामयिक भाव प्रदर्शन उन सभी लोक नाटक परंपराओं के माध्यम से जीवंत रूप में जीवित रहा है। नाट्यालोचकों की नजर में भी लोक नाट्य परंपरा का महत्व बराबर बना रहा है। सर्वप्रथम तो स्वयं भरतमुनि ने ही लोकधर्मी नाट्यपरंपरा को स्वाभाविक बतलाया है। लोक नाटकों में कथानक की विविधता और उनमें प्रयुक्त संगीत प्रयोग उन्हें अपने समय में सार्थक बनाए रखते हैं। लोकधर्मी नाट्य परंपरा में सभ्यता और संस्कृति के क्रमिक विकसित होते पहलू पर अपनी बात रखते हुए दुर्गा दीक्षित का कहना है- "देश की कलात्मक अभिव्यक्ति में लोककला का अभूतपूर्व महत्व होने के कारण किसी भी भाषा के नाटक की मूलभूत कड़ी उस प्रदेश की लोकधर्मी नाट्यपरंपरा होती है। यही कारण है कि भारत में लोकनाट्य पुरातन काल से आज तक कई प्रकारों और रूपों में निरंतरता से विद्यमान ही नहीं बल्कि जीवित है, और कई दृष्टियों और स्तरों से विविधता लाता हुआ विकसित हो रहा है। कृषि सभ्यता में जन्मी लोकधर्मी नाट्यपरंपरा ने सभ्यता एवं संस्कृति के विकास एवं परिवर्तनों के बावजूद अपना अस्तित्व बनाए रखा है, जीवंत, स्वतंत्र एवं उन्मुक्त।"²

यह सच है कि भारतीय लोकनाट्य परंपरा अपने क्रमिक विकास में समय-समय पर मानव जीवन के विभिन्न पहलुओं को साथ लेकर चली है और अपनी प्रासंगिकता को बनाए हुए है। भारतीय चिंतन परंपरा को नज़रअंदाज कर जब हम शिष्टता के फेर में पश्चिम के व्यामोह में फँस जाते हैं तो हम अपनी सांस्कृतिक जड़ों को देखना ही नहीं चाहते। नेमिचंद्र जैन ने इसी प्रकार से कहा है- "दुर्भाग्य की बात यह है कि पश्चिमी विद्वानों और उनके भक्त भारतीयों की इन मान्यताओं को हमारे अपने ही आचरण से बल और आधार मिला।

हमने पिछली शताब्दी के प्रारंभ से ही बड़े भक्ति भाव से नाटक-लेखन और प्रस्तुतीकरण की पश्चिमी शैलियों और पद्धतियों की दास्तापूर्ण नकल शुरू कर दी और लगभग 12-14 दशकों तक कमोबेश वही हमारे रंगकर्म का मॉडल बना रहा। नतीजा यह हुआ कि कुछ वर्ष पहले तक हमारे रंगकर्मी शेक्सपीयर, मोलियर, इब्सन, अरस्तू के काव्यशास्त्र (पोएटिक्स) यहाँ तक कि कामेदिया देलार्त से तो परिचित होते थे पर कालिदास, शूद्रक, भास और भरत के नाट्यशास्त्र को या कूडिआट्टम, यक्षगान, भवई या स्वांग के बारे में उनकी जानकारी नहीं के बराबर होती थी।"³

इतनी स्पष्टता से यहाँ नेमिचन्द्र जैन जी ने अपने व्यापक अनुभव से रंगमंच के क्षेत्र में पश्चिमी व्यामोह को उकेरते हुए अपनी पारंपरिक जड़ों के महत्व को रेखांकित किया है। वस्तुतः नाटक के क्षेत्र में लोक और शास्त्र के भेद को तवज्जो न देते हुए रंग समीक्षकों ने भी भारतीय मौलिक चिंतन को केंद्रीयता प्रदान की है। लोकनाट्य परंपराओं के प्रचलित रूपों में भी शास्त्रीय गुण विद्यमान हैं, क्योंकि शास्त्र भी तो लोक से ही बना है। लोक एवं पारंपरिक नाट्य की धारा में गीत, नृत्य कथानक की विविधता ही शास्त्र का भी आधार बनी होगी। इन्दुजा अवस्थी भी लोकधर्मी एवं नाट्यधर्मी परंपरा के समन्वित स्वरूप को नाटकीय परंपरा में सहयोगी बतलाते हुए कहती हैं- "कहा जा सकता है कि नाटकीय प्रस्तुतीकरण के संबंध में जो भी सूक्ष्म से सूक्ष्म संकेत मिल सकते हैं, उनमें लोकतत्व स्पष्ट है। अतः यह मान लेना शायद उचित हो कि संस्कृत की सुविकसित नाट्यपरंपरा के पहले भी कोई नाट्य-परंपरा रही होगी जो एक ओर तो संस्कारित (अथवा संस्कृत) होकर महान नाटकों के रूप में प्रतिफलित हुई और दूसरी ओर अनेक शैलियों और क्षेत्रों में पारंपरिक नाट्यधारा के रूप में प्रवाहमान हुई। इसीलिए भारतीय नाट्य के विकास की कहानी में पारंपरिक और नागर दोनों ही परंपराओं में एक का समान स्थान है।"⁴

लोक से ही शास्त्र की निर्मिती की बात करने और नाट्यशास्त्र के आधार के रूप में गायन, वाचन व अभिनटन की लोकरंगधारा की चर्चा करने वाले रंग समीक्षक व राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय के पूर्व निदेशक देवेन्द्रराज अंकुर लोकधर्मी और नाट्यधर्मी परंपराओं में कोई अंतर्विरोध नहीं पाते। उनके अनुसार दोनों ही परस्पर संबद्ध और भारतीय चिंतन कला की संयोजक हैं। उनके अनुसार यदि कोई कहीं अंतर एवं समस्या है तो वह है पश्चिमी चिंतन को तवज्जो देकर उसे अपने ऊपर हावी करने की। उनके ही शब्दों में कहें तो- "लोक नाटक और नाट्यधर्मी प्रस्तुति शैली में कोई विरोध नहीं है क्योंकि लोक नाटक की प्रस्तुति किसी अन्य शैली में की ही नहीं जा सकती। इसके विपरीत लोकधर्मी निश्चित रूप से एक अलग एवं स्वतंत्र प्रस्तुति शैली की ओर संकेत करती है। यह अलग बात है कि हम उसे यथार्थवाद के चौखटे में बंद न करना चाहें लेकिन सच्चाई यही है कि लोकधर्मी के माध्यम से भरत ने यथार्थवादी दृष्टि का संकेत आज से न जाने कितने वर्ष पहले दे दिया था। तब तक पश्चिम में तो इस अवधारणा का कोई नाम लेना भी नहीं था। इसे नाटकीय विडंबना ही कहा जा सकता है कि जिस व्यावहारिक, सहज, सरल और प्रकृतिवादी अवधारणा का जन्म नाट्यशास्त्र में हुआ, उसे हम पश्चिम से आयातित मानकर आज उसका तिरस्कार कर रहे हैं और न जाने कौन सी अबूझ और निगूढ़ भारतीयता की तलाश कर रहे हैं।"⁵

वस्तुतः नाटक के क्षेत्र में लोक और शास्त्र के समन्वय की बात उभर कर आती है, क्योंकि शास्त्र रूपी वृक्ष की जड़ों के रूप में लोक एवं पारंपरिक नाटक एवं रंगकर्म मौजूद है। दिनोंदिन बदलती तकनीक और इजाद होते सैकड़ों मनोरंजन के साधनों और ग्रामीण से नगर में बदलते भारतीय परिवेश ने लोक नाटक एवं रंगमंच के प्रचलन तथा अस्तित्व के लिए चुनौती तो निश्चित ही पैदा की है। चूँकि समय का पहिया गोल है इसलिए दिनोंदिन बढ़ते तकनीकीकरण और पनपते शहरीकरण का भी एक चरम आएगा और उसी की ओर बढ़ते क्रम में जनसामान्य के अंतर्मन में अपनी पारंपरिक जड़ों से जुड़ने और अपने आंतरिक शून्य को भरने के लिए स्पंदन की ललक अवश्य ही पैदा होगी। जनसामान्य की यह स्पंदन ललक उस समय

पारंपरिक लोक नाट्य परंपरा को कहीं-न-कहीं आज से भी ज्यादा महत्वपूर्ण साबित करेगी। यदि ऐसा न हुआ तो निश्चय ही मनुष्य लोकधुनों के अभाव में यांत्रिक और मशीनी होता चला जाएगा, क्योंकि फिर से कहा जाए तो लोक एवं पारंपरिक नाट्य परंपरा मनोरंजन का साधन मात्र ना होकर हमारी सांस्कृतिक पहचान और अस्मिता के साथ-साथ लोकजीवन की मनोवैज्ञानिक तृप्ति और सामाजिक बोध एवं भाषाई संगम का भी आयाम है।

लोक नाट्य परंपरा और मुखौटा-कला

नाटक एक प्रदर्शनकारी विधा है। नाटकीय पाठ का मंचीय विस्तार ही उसकी कलात्मक सार्थकता को आयाम देता है। नाटक के मंचीय विस्तार विशेषकर पारंपरिक नाटकों के मंचन में मुखौटों का प्रयोग महत्वपूर्ण रहा है। पारंपरिक नाटकों के प्रदर्शन में मुखौटों का प्रयोग अपना विशेष स्थान रखता है, यहाँ तक की छऊ जैसे पारंपरिक लोकनाट्य प्रस्तुति में तो लगभग सभी पात्र अभिनेता इसका इस्तेमाल करते पाए जाते हैं। भारतीय नाट्य परंपरा के बाहर भी इनका प्रयोग देखने को मिलता है। विभिन्न एशियाई देशों और यूरोप आदि भागों में भी मुखौटों का प्रयोग होता रहा है। हमारे देश में विभिन्न धर्मों का प्रचलन और क्षेत्रीय भाषाओं का प्रयोग देखने को मिलता है। मानव जाति की विभिन्न सुख-दुखात्मक मनोभूमियों को मुखौटे का आवरण बयान करने में सहायक साबित होता रहा है। वह एक ऐसा खोल है जो अभिनेता को एक चरित्र की नुमाइंदगी के लिए प्रतिबद्ध करता है और अभिनेता उस मुखौटे में ध्वनित होते चरित्र की भंगिमाओं को अपने अभिनय में ढालने का हर संभव प्रयास करता है। मुखौटा-कला के नैरंतर्य में मुखौटा निर्माण की प्रक्रिया भी क्षेत्रीय एवं सांस्कृतिक दृष्टि से अपना अलग ही महत्व रखती है क्योंकि परंपरागत रूप से लंबे समय से मुखौटा बनाने की एक लंबी प्रक्रिया रही है। यह फिर से कह देना होगा कि भारत विविधता में एकता का देश होने के कारण मुखौटे भी अलग-अलग ढंग से बनाए जाते रहे हैं-"अलग-अलग संस्कृतियों में मुखौटा बनाने की अलग-अलग प्रविधियाँ प्रचलित हैं। जैसे आदिवासी समाज में जानवर की सींग, पक्षियों के पंख, लकड़ी और किसी-किसी समुदाय में हड्डियों के भी मुखौटे मिलते हैं छऊ में नदी में मिलने वाली खास मिट्टी का उपयोग होता है। आमतौर पर लकड़ी धातु से बना पत्थर मिट्टी, कपड़ा, कागज प्लास्टर ऑफ पेरिस, रंग, शंख, सीपी, कोड़ी, चूड़ी, हाथी दाँत, सींग, पंख, फर, सूत, ऊन, चावल, लौकी, मोम कागज की लुगदी इत्यादि सामग्रियों से मुखौटा बनाया जाता है। प्लास्टिक के आविष्कार के बाद प्लास्टिक से भी कई तरह के मुखौटे बनाए जाते हैं। मुखौटा बनाना भी एक कला है।"⁶

मुखौटा नाटक प्रदर्शन में अभिनेता के लिए जितना सहायक होता है उतना ही चुनौतीपूर्ण भी, क्योंकि सहायक तो जिस चरित्र का मुखौटा होता है उसकी विशेषताओं का सामान्य परिचय स्वयं मुखौटा ही प्रस्तुत कर देता है लेकिन चुनौती इस रूप में होती है कि जिस चरित्र को मुखौटे के रूप में अभिनेता ग्रहण करता है वह दर्शक दीर्घ की ओर से बराबर यह मांग पैदा कर देता है कि अभिनेता उसी मुखौटे में छिपे चरित्र को अपने अभिनय से जीवंत रूप में प्रस्तुति प्रदान करे क्योंकि - "मुखौटे का मतलब एक ऐसा आवरण है जिसे धारण करने से रूप बदल जाता है, व्यक्ति किसी और का प्रतिरूप बन जाता है- मुखौटे का सबसे अधिक प्रयोग नाट्य परंपरा में देखने को मिलता है, रंगमंच प्रदर्शनकारी कलाओं की शुरुआत से

ही मुखौटों के प्रयोग का उल्लेख मिलता है। यूरोपीय परंपरा में ग्रीक नाटकों से लेकर कामेदिया देला आर्ते में और इसके बाद भी मुखौटों का प्रयोग होता रहा है।... एशिया की विभिन्न पारंपरिक कलाओं में मुखौटों का इस्तेमाल होता है, जापानी नाटकों में भी मुखौटों का उपयोग होता है, जावा थाईलैंड, श्रीलंका, इंडोनेशिया आदि एशियाई देशों में मुखौटों की विभिन्न शैलियाँ मिलती हैं। नाटक संबंधी आदि ग्रंथ भरत के नाट्यशास्त्र में भी उल्लेख है कि पशुओं के मुख वाले मंच पर सिंह आदि किसी जानवर की योजना हो तो मिट्टी, लकड़ी, राख से लाख या चमड़े से बने मुखौटों का प्रयोग करता चाहिए। भरत केवल मुखौटों का प्रयोग और बनाने का उल्लेख भर नहीं करते हैं बल्कि कब कैसे उपयोग करना चाहिए यह भी बताते हैं।⁷ यहाँ हमने देखा कि नाटकों के प्रदर्शन में मुखौटों का प्रचलन प्रारंभ से ही रहा है और भारतीय नाट्य परंपरा में भी इसका प्रयोग प्राचीन काल से ही मिलता है। मानवेंतर प्राणियों के साथ-साथ विशेष चरित्रों एवं दैवीय पात्रों के लिए भी मुखौटे का इस्तेमाल बराबर देखने को मिलता है। देशकाल और वातावरण एवं सांस्कृतिक पृष्ठभूमि के अनुसार मुखौटों के निर्माण और प्रयोग का प्रचलन द्रष्टव्य है। किस प्रकार मुखौटा अभिनेय चरित्र को अपना रंग देता है और अभिनेता मुखौटा धारण करने पर उसकी प्रतीकात्मक छवि को जीवंत करने के अभिनय प्रयास में संलग्न रहता है। लोक नाटकों में संकेतों की प्रधानता पर अपनी बात रखते हुए दुर्गा दीक्षित का मानना है कि "मुखौटों के प्रयोग से रावण, देवता, विदूषक, पशु तक कोई भी पात्र बन जाता है। काल-परिवर्तन, कथा सूत्र की संगति पात्र परिचयादि बातें लोकनाट्य के सूत्रधार द्वारा बताई जाती हैं। उसके यह कहने पर कि दस साल बीत गए, दर्शक मान लेता है कि दस साल के पश्चात की स्थिति है।"⁸

इसी प्रकार से मुखौटों का प्रयोग हर जगह देखने को मिलता है वह चाहे भारतीय लोकनाट्य परंपरा हो या फिर एशिया एवं यूरोप की नाट्य परंपरा। हर स्थान पर नाट्य प्रदर्शन में मुखौटों का प्रयोग एवं प्रचलन मिलता है। दक्षिण भारत की ओर देखें तो महाराष्ट्र में ही दशावतार के मंचन में मुखौटों की चर्चा इस रूप में देखने को मिलती है- "सारे अवतार दिखाने के लिए काष्ठ के मुखौटों का प्रयोग किया जाता है। गणेश जी, राक्षस, पूतना आदि के भी मुखौटे होते हैं, सरस्वती का मुखौटा नहीं होता अन्य सारे अवतारों को मुखौटा पहनाकर स्वांग सजाया जाता है। हर वर्ष मुखौटों की रंगाई की जाती है।"⁹

इस उदाहरण से यह बात भी निकल कर आ रही है कि मुखौटा-कला का कार्य अपने आप में एक निरंतरता में आगे बढ़ता रहा है। भारतीय नाट्य परंपरा के साथ ही भारतेतर क्षेत्रों जिसमें दक्षिण पूर्व एशिया के प्रांत और यूरोपीय देशों में भी मुखौटों का प्रयोग देखने को मिलता है। उदाहरण के लिए "म्यांमार में रामायण नाट्य नृत्य की प्रस्तुति, अभिनय और संवाद, नृत्य और काव्यपाठ, गान और एकालाप, नृत्य और नाट्य क्रियाओं का संगीत में संयोजन हुआ करता है। इसमें गायन पार्श्व संगीत के साथ नहीं जुड़ा होता बल्कि नर्तक स्वयं गायक भी होते हैं। इसकी अपनी एक विशिष्टता यह है कि इसमें राम-लक्ष्मण आदि उदात्त मानवीय पात्र भी मुखौटों का प्रयोग करते हैं। संवाद बोलते समय वे मुखौटों को उतार दिया करते हैं। पात्र प्रवेश मुखौटा पहनकर अभिनेताओं के नृत्य के साथ होता है, फिर संगीत रूक जाता है और अभिनेता मुखौटे उतारकर संवाद बोलते हुए स्वाभाविक नाट्यक्रिया करते हैं।"¹⁰ इसी के साथ-

साथ जावा में प्रचलित नृत्य नाट्य में सर्वप्रथम मुखौटा नृत्य नाट्य का प्रचलन बतलाया गया है। इस रूप में हम पाते हैं कि ना केवल भारत अपितु भारत से बाहर वैश्विक स्तर पर भी लोक नाट्यपरंपरा के रूप में रामकथा का दृश्यांकन - मंचन देखने को मिलता है। अभी पीछे हमने महाराष्ट्र के दशावतार में मुखौटा प्रयोग की बात रखी और साथ ही भारत के बाहर रामायण के मंचन में मुखौटों के प्रयोग पर जानकारी साझा की। यदि भारत के ही विभिन्न हिस्सों की बात करें तो हम पाते हैं कि वाराणसी, लखनऊ, मथुरा, दिल्ली, जयपुर, सतना, रोहतक जैसे लगभग पूरे उत्तर भारत में की जाने वाली रामलीलाओं में मुखौटों का प्रयोग बराबर किया जाता है। बिसाऊ (राजस्थान) में की जाने वाली रामलीला में प्रयुक्त मुखौटों की चर्चा करने हुए इन्दुजा अवस्थी कहती हैं- "स्वरूपों के अतिरिक्त अन्य सभी पात्र मुखौटे पहनते हैं। मुखौटे बिसाऊ में ही बनते हैं। बड़े ही आकर्षक रंगों और आकृतियों वाले इन मुखौटों के बनने का काम रामलीला के आयोजन का प्रमुख अंग होता है और महीने भर पहले से ही प्रारंभ हो जाता है। वानरों के मुखौटे उनकी पोशाकों के रंग के होते हैं। रावण का दस मुख का मुखौटा अन्य राक्षसों के काले रंग के विशाल मुखौटे शिव, काली, ब्रह्मा, विष्णु, अंबा आदि देवी-देवताओं के भी मुखौटे बनते हैं।... बिसाऊ रामलीला का प्रमुख आकर्षण वहाँ की स्थानीय और कलात्मक वेशभूषा और सुंदर मुखौटे हैं।"¹¹

रामलीला, छऊ, यक्षगान, अंकिया नाट आदि विभिन्न लोक नाटकों में मुखौटा-कला का प्रयोग देखने को मिलता है, जो कि आज भी लोक रंगमंच का अभिन्न हिस्सा हैं। नाटकों में प्रयुक्त इन मुखौटों की महत्ता को अज्ञेय जी ने इस रूप में प्रस्तुत किया है- "मुखौटे केवल धोखा देने के लिए ही नहीं बल्कि सच्चाई को प्रस्तुत करने के लिए भी लगाए जाते हैं। साधारण जीवन में मुखौटा फरेब है, लेकिन नाटक में वही मुखौटा हमें यथार्थ में लौटा लाने में सहायक हो सकता है।"¹² पूर्वी भारत के आदिवासी समाज में नृत्य नाटिकाओं में मास्क का प्रचलन प्रायः देखने को मिलता है। उड़ीसा का पशु नृत्य भी मुखौटा-कला से संबद्ध है। मानवीय सभ्यता और संस्कृति का स्वरूप भी इन आदिवासी लोक गीतों एवं नृत्यों में बराबर झलकती है। ये आदिवासी कला, प्रदर्शन और संस्कृति की मानवीय विरासत हैं जो आज कहीं-न-कहीं चुनौतीपूर्ण स्थिति में हैं। पूर्वी भारत के आदिवासी मुखौटा नृत्य पर एक नजर में कहा जाए तो- "ये नृत्य एक विस्तृत भौगोलिक स्थान जो सिक्किम की पहाड़ियों के आदिवासी इलाकों से झारखंड और उड़ीसा के मयूरभंज के आदिवासी इलाकों तक फैला हुआ है। इन मुखौटों के उत्पादन के विषय में जानकारी देती है जो समाज की कला, इतिहास और शिल्पकारिता को दर्शाते हैं। झारखंड के विभिन्न गाँवों में पाया जाने वाला सरायकेला छऊ ओड़िशा का पशु नृत्य, जिसमें जानवरों के मुखौटे का उपयोग किया जाता है, पुरुलिया, छऊ जहाँ संधाल समुदाय इस कला शैली का प्रदर्शन करता है, मालदा का गंभीरा जो उत्सव के अवसर पर प्रदर्शित किया जाता है, दिनाजपुर का गम्हीरा नए साल को चिह्नित करने के लिए प्रदर्शित किया जाता है। सिक्किम के सिंघी छाम और याक छाम और असम का भावना।"¹³

विभिन्न प्रकार से बनाए जाने वाले इन विभिन्न प्रकार के मुखौटों का विभिन्न लोक नाटकों एवं नाट्य नृत्यों में अलग-अलग प्रयोग होता आ रहा है। व्यावहारिक स्तर पर इसका एक बड़ा महत्व यह है कि नाटक में प्रस्तुति प्रदान करने वाले अभिनेता को अपनी भूमिका का एक बाहरी आवरण पहले ही मिल

जाता है जिससे उसके अंदर अपनी संबद्ध भूमिका का मानसिक पटल तैयार हो जाता है। यह तो स्वयं अभिनेता एवं नाट्य प्रस्तुति की ओर का पक्ष है जो उसे अभिनेय भूमिका के लिए उत्प्रेरित करता है दूसरी ओर दर्शक एवं सामाजिक वर्ग के लिए भी मुखौटा संप्रेष्य विषय-वस्तु को ग्रहण करने में सहायक होता है। वह इस रूप में सहायक होता है कि सामान्य बोल-चाल के स्तर पर जब यह कहा जाता है कि उसका चेहरा लाल हो गया या पीला पड़ गया आदि आदि। इस प्रकार बदलते मनोभावों को ऐसे उदाहरणों से उद्धृत किया जाता है। ठीक ऐसे ही प्रस्तुति के दौरान अभिनेता जिस प्रकार का मुखौटा पहनकर मंच पर अवतरित होता है उसे देखकर दर्शक समाज अभिनेता की भूमिका को (उस पर आरोपित चरित्र) सहज रूप में समझ पाते हैं। भारत के अलग-अलग हिस्सों और वैश्विक स्तर पर भी लोक नृत्यों एवं लोकनाटकों में स्थानीय माटी की सौंधी महक वहाँ की सभ्यता एवं संस्कृति का जीवंत रूप उभारकर सामने लाती है। लोक कथाओं का विस्तारित रूप सांस्कृतिक संगम की प्रतीति कराता है। लोक एवं पारंपरिक रंगमंच मुख्यतः दो स्वरूपों को साथ लेकर आगे बढ़ा एक ओर लौकिक प्रेमाख्यान व सामाजिक-राजनीतिक विषय-वस्तु इनमें प्रमुख रही है जिसमें नौटंकी, स्वांग, ख्याल, तमाशा, जात्रा, माच, भवई आदि प्रमुख हैं तो दूसरी ओर धार्मिक एवं पौराणिक आख्यान आधारित लोक नाटक जैसे रामलीला, दशावतार, अंकिया नाट को प्रमुखता से देखा जा सकता है, जिनमें भक्ति भावना का स्वरूप प्रमुखता से उभरता है। रामलीला में प्रयुक्त मुखौटे तो पूरे भारत में प्रचलित हैं। असम के अंकिया नाट में तो रावण के दस मुंह वाले मुखौटे का ही प्रचलन रहा है। अन्यान्य कारणों से लोकरंगमंच एवं नाट्य प्रदर्शन की कला में मुखौटों का प्रचलन इस नाट्यधारा के सजीव और रम्यक पक्ष को सामने रखती है इसी से लोक नाटकों की प्रस्तुति में लोक कथाओं का सन्निवेश भी बराबर दिखता है, जो अपने आपमें लोकजीवन की धुनों का प्रस्तोता भी बनकर उभरता है। लोक नाटकों की शास्त्रीय विवेचना करते हुए डॉ. दशरथ ओझा ने उनमें प्रयुक्त मास्क आदि की चर्चा करते हुए भी लोक नाटकों में लोक नाटककारों द्वारा लोक जीवन के प्रस्तुत किए जाने वाले जीवन यथार्थ का भी उल्लेख करते हुए कहा है- "कुंकुम, खड़िया, गेरू, काजल आदि सामग्री इनके लिए प्रसाधन की वस्तुएँ हैं। प्रकाश के लिए मशालों की व्यवस्था होती है। कपड़ों के मशाल, अरंडी के तेल के छोटे बड़े कुप्पे, नेपथ्य-निर्माण की एक-दो चादरें इनके उपकरण हैं। कभी-कभी चेहरे (Masks) लगाकर पशु-पक्ष, भालू-बंदर, देव-दानव का वेश धारण किया जाता है। नागरिक नाटककार ग्राम्य जीवन में घुल-मिल नहीं पाते। अतः ग्रामीणों के सुख-दुख से सर्वथा अनभिज्ञ होने के कारण वे ग्रामीण समाज के हृदय को छू नहीं पाते। ग्रामीण नाट्यकारों ने प्रेम, आर्थिक संकट, अधिकारियों की उच्छृंखलता, वीरों के शौर्य, साहसियों के साहस, धार्मिकों की तपस्या, ढोंगियों के आडंबर, पतिव्रता की विपत्ति, समाज की कुरीतियाँ, नवीन सभ्यता की त्रुटियाँ आदि को नाटक की कथावस्तु का आधार बनाया।"¹⁴

यहाँ हम देख पाते हैं कि किस प्रकार लोक नाट्य परंपरा में लोक 'कलाओं, लोक समस्याओं और मुखौटों का प्रयोग बराबर देखने को मिलता है। लोकनृत्य और लोकनाटकों का आधार भी भरा पूरा लोकसमाज है और उसकी प्रस्तुति की उद्देश्यपूर्ति भी लोकसमाज को ही अधिकांशतः छूती है। जमीन से जुड़े जीवन अनुभवों का जीवंत कोश उपलब्ध कराने के रूप में लोक नाट्यपरंपरा मानव सभ्यता के सामाजिक-सांस्कृतिक पहलुओं के ऐतिहासिक साक्ष्य भी प्रस्तुत करती है। अरण्य और आदिवासी समाज के साथ-साथ

विभिन्न भू-भागों में व्याप्त ग्रामीण अंचल का व्यापक यथार्थ बहुत ही रसमयता के साथ लोक धुनों में पिरोई हुई प्रस्तुति इन लोकनाटकों में दिखलाई देती है, जो मंच पर लोक कलाकारों द्वारा सहजता के साथ संगीत, चित्रकारी और मंच सज्जा के माध्यम से अपना आयाम प्रस्तुत करती है। मुखौटा-कला इन प्रस्तुतियों में बराबर झलकती है जो देशकाल-वातावरण व कथा एवं पात्र के अनुसार बनाए हुए मुखौटा के साथ मंचीय दृश्य का अभिन्न अंग बनते हुए अभिनेता पर आरोपित चरित्र को दर्शक समूह से प्रत्यक्ष रूबरू कराती है। साथ ही प्रस्तुत अभिनेता के अन्तस में भी अभिनेय चरित्र की भूमिका को उसके मानसिक पटल पर उतारने में सहायक साबित होती है। यदि संक्षिप्त में कहा जाए तो लोकनाटकों की परंपरा में प्रयुक्त मुखौटा-कला लोकनाट्यशास्त्र के रूप में अभिन्न अंग बनकर उभरती है।

लोकनाट्य परंपरा और महापुरुष माधवदेव

भारत और भारत के बाहर भी लोकनाट्य परंपरा अपने आप में एक सुदीर्घ परंपरा के रूप में प्रस्तुत है। लोकनाट्य कि इस सुदीर्घ परंपरा में विभिन्न लोक नाटक लेखक-नाटककार एवं लोक नाटक, लोक नाटककार गणित किए जा सकते हैं। इसी परंपरा में एक बड़ा नाम महापुरुष माधवदेव जी का भी आता है। इस भारत भूमि पर अनेक ऐसे विरले व्यक्ति अवतरित हुए जिन्होंने अपनी चेतना से मानव मात्र के कल्याण का रास्ता बनाया और दिखाया। महापुरुष माधवदेव भी ऐसी ही एक विभूति रहे हैं जो एक कवि-नाटककार के साथ-साथ प्रसिद्ध आध्यात्मिक गुरु भी रहे हैं। मध्यकालीन समय में देशव्यापी वैष्णव धर्म-आंदोलन की लहर स्वरूप ही पूर्वी भारत में श्रीमंत शंकरदेव और उनके शिष्य महापुरुष माधवदेव ने इस परंपरा का निर्वहन करते हुए कृष्ण भक्ति के रूप में असम में अंकिया नाट का प्रचलन शुरू किया- "माधवदेव शंकरदेव के शिष्य थे। उन्होंने अपने गुरुदेव की परंपरा को आगे बढ़ाया। इन दोनों महात्माओं ने नामघरों को सांस्कृतिक केंद्र बना दिया। वैष्णव भक्त रामायण और महाभारत की कथाओं का अभिनय गद्य-पद्य के माध्यम से गाँव-गाँव दिखाने लगे। इनके धार्मिक नाटक अंकिया नाट के नाम से प्रसिद्ध हुए। 15वीं व 16वीं शताब्दी में इन नाटकों ने भारतीय संस्कृति को आपत्तिकाल में भी जीवित रखा। आसाम को इसका विशेष श्रेय देना चाहिए। सोलहवीं सदी के उपरांत भी चिरकाल तक ये अंकिया नाटक हमारी चेतना के उन्नायक बने।"¹⁵

डॉ. दशरथ ओझा का यह कहना कि यह अंकिया नाटक 16वीं शताब्दी के बाद भी चेतना के उन्नायक बने रहे और आज भी बने हुए हैं, अपने आपमें इसके सांस्कृतिक महत्व को भी उजागर करता है। विषय, भाषा और शिल्प-शैली कई मायनों में श्रीमंत शंकरदेव और महापुरुष माधवदेव की परंपरा अपना विशेष महत्व रखती है। मध्यकालीन समय में वैष्णव आंदोलन की पताका को पूर्वी भारत में देसी भाषा में नाटकीय चेतना के माध्यम से फहराने वाले इन महात्माओं एवं आध्यात्मिक गुरुओं ने आजीवन अपनी वाणी साहित्य एवं कला प्रदर्शनों के माध्यम से मानव कल्याण हेतु ईश्वर स्तुति की है। जीवन में व्याप्त नैराश्य और अंधकार को दूर कर लोक चेतना को उत्सवधर्मिता के रूप में उजागर करती श्रीमंत शंकरदेव और महापुरुष माधवदेव की यह परंपरा लोक नृत्य एवं लोक नाटक के रूप में आज भी निरंतर प्रवाहमान है-

“भारत के पूर्वी भाग बंगाल और आसाम में कृष्ण काव्य ने रंगमंच को केंद्र बनाया। चैतन्य महाप्रभु, महापुरुष शंकरदेव, माधवदेव, गोपालअटा, रामचरण ठाकुर, द्विजभूषण, दैत्यारि ठाकुर, प्रभृति महात्माओं ने श्रीमद्भागवत, वैवर्त पुराण, हरिवंश आदि पुराणों के आख्यानो के आधार पर कृष्ण-जीवन से संबद्ध एकांकी नाटकों की रचना की। उन्होंने आसाम के गाँव-गाँव में नामघरों का निर्माण किया जिनमें नाट्य अभिनय के लिए अभिनयशाला की भी प्रायः व्यवस्था रहती थी। उन पर पट परिवर्तन का प्रबंध था। आश्चर्य का विषय है कि यूरोप से भी पूर्व इन भगवद भक्तों ने दृश्य परिवर्तन के समय रंगीन चित्र का विधान बनाया और कृष्ण जीवन के अनुकूल दृश्यों का निर्माण किया।”¹⁶ वस्तुतः महापुरुष माधवदेव जी ने झूमरा के रूप में नाट्य रचना की और बरगीत लिखे। उनका लिखा गया नाट्य साहित्य कृष्ण भक्ति के रूप में वैष्णव धर्म के प्रचार के लिए सहयोगी साबित हुआ। वे स्वयं शाक्त थे लेकिन श्रीमंत शंकरदेव के सानिध्य में उन्होंने वैष्णव धर्म को अपना लिया था। वह एक अच्छे गायक भी रहे हैं, क्योंकि महापुरुष माधवदेव जी का जन्म 1489 ई. और देहावसान 1596 ई. में हुआ था, वह समय मध्यकालीन भक्ति काव्य का समय था। दक्षिण से उत्तर भारत में भक्ति की लहर को रामानंद लाए और पूर्वोत्तर भारत में श्रीमंत शंकरदेव व महापुरुष माधवदेव ने भक्ति आंदोलन की लहर को व्यापकता से प्रसार दिया। असम के बहुभाषी एवं बहुजनजाति वाले प्रांत में परस्पर समरसता को बांधने का श्रेय श्रीमंत शंकरदेव और महापुरुष माधवदेव जी को जाता है क्योंकि "असम में प्राचीनकाल में नाटक का प्रचलन था या नहीं इसका कोई लिखित विवरण उपलब्ध नहीं है। 15वीं शताब्दी में महापुरुष शंकरदेव ने धर्म संस्कार की भावना से मनुष्य के नैतिक चरित्र निर्माण हेतु असम तथा बाहर की लौकिक नाटक कलाओं के साथ-साथ संस्कृत की नाट्यकला का समन्वय कर नव वैष्णव धर्म के प्रचार-प्रसार हेतु एकांकी नाटकों की रचना की जिन्हें "अंकिया नाट" कहा जाता है। शंकरदेव के प्रमुख अंकिया नाट हैं-चिहन पात्र, कालिया दमन, पत्नी प्रसाद, केलि गोपाल, रुक्मणी हरण, पारिजात हरण, राम विजय, शंकरदेव के शिष्य माधवदेव ने भी मुख्य रूप से शंकरदेव का आदर्श सामने रखकर एक नई शैली के नाटक "झूमरा" लिखे जिसमें नृत्य गीत को ज्यादा महत्व दिया गया।”¹⁷ यहाँ जिस प्रकार झूमरा की चर्चा महापुरुष माधवदेव के नाटकों के संदर्भ में की गई है। वस्तुतः उसमें नृत्य नाटिका का ही रचा-बसा स्वरूप रहा है। श्रीमंत शंकरदेव और महापुरुष माधवदेव का उद्देश्य जनसामान्य में भागवत आस्था और नैराश्य दूर कर विश्वास जगाना और इस विश्वास को पूरे उत्तर पूर्वी भारत में व्याप्त करना था। उन्होंने अपने रचना कर्म व प्रदर्शन से इसका निर्वाह किया। आसाम के बाक्सा जिले के पूगगाँव निवासी पंडित प्रेमसागर गौतम जो दिल्ली के गाँव मुण्डेला खुर्द के ग्राम मंदिर (दादा खेड़ा मंदिर) में पुजारी हैं उन्होंने बताया कि "आज भी आसाम के नामघरों में शंकरदेव और माधवदेव की परंपरा कृष्णभक्ति के रूप में लोकगीतों और अंकिया नाट के रूप में विद्यमान है और आज भी वहाँ भजन-कीर्तन किये जाते हैं।”¹⁸ आसाम की लोक नृत्य शैली ओझपाली की चर्चा करते हुए डॉ. दशरथ ओझा ने कहा है- "शंकरदेव माधवदेव आदि महात्माओं ने इस शैली को भक्ति संबंधी विचारों के प्रचार के उपयुक्त समझकर ग्रहण किया और सर्वसाधारण भक्तों के समझने योग्य ब्रज, अवधी, मैथिली, बंगला, असमिया मिश्रित ब्रजबुलि में अंकिया नाट का अभिनय प्रारंभ किया। देशी भाषा की यह नाट्यशैली मुसलमानों के आक्रमण काल में भारत के उन भू-भागों में भली प्रकार पल्लवित हुई जहाँ हिंदू राजाओं की सत्ता के कारण नाटक

का अभिनय वर्जित नहीं था। आसाम और उड़ीसा पर मुसलमानों का आधिपत्य अपेक्षाकृत विलंब से हुआ। अतः आसाम में अंकिया नाट और उड़ीसा में यात्रा नाटक स्वाभाविक गति से विकासोन्मुख होते गए। माधवदेव ने अपने पाँच नाटकों का नाम झूमरा दिया है। उनके झूमरा नाटक हैं-चोर घर झूमरा, भूमि लुटिया झूमरा, पिंजरा गुचावा झूमरा, भोजन विहार-झूमरा और रास झूमरा। प्रश्न उठता है कि झूमरा नाटक के विकास का क्या इतिहास है? यह एकांकी नाटक संगीत-प्रधान होता है।¹⁹

इस रूप में हम पाते हैं कि महापुरुष माधवदेव ने एक जन व्यापक चेतना का प्रसार अपने रचना कर्म और गायन प्रदर्शन के माध्यम से करते हुए आसाम और पूर्वोत्तर भारत के हिस्सों में किया जिसे आज भी वहाँ के लोग जानते, मानते और मनाते हैं। ऐसे सिद्धपुरुष शताब्दियों में ही अवतरित होते हैं और पीढ़ियों-शताब्दियों तक उनके किए कर्म का रचनात्मक प्रभाव सामाजिक सांस्कृतिक जीवन को उन्नत बनाने में मददगार साबित होता है। समाहार रूप में कहा जाए तो यह कहना उचित होगा कि लोक नृत्य एवं लोकनाट्य मानव जीवन के सामाजिक-सांस्कृतिक पहलूओं की आधारशिला हैं। संपूर्ण विश्व में इन्हें देखा जा सकता है। मानव की मूल भावनाओं का उत्सव जीवन स्पंदन के रूप में इन लोक नृत्य-नाटकों में समय-समय पर प्रदर्शित होता आया है। इस रूप में सह आयोजन लोक जीवन का कलात्मक प्राण स्रोत है। इन कलात्मक प्राण स्रोतों से लोक जीवन का आनंद बना रहता है। लोक नाट्यपरंपरा क्षेत्रीय स्तर पर अलग-अलग रंग और रूपों में विभाजित होते हुए भी समूचे भारत में आस्था और विश्वास को कायम रखने का आधार खड़ा करती है। जीवन में फैलने वाले अंधकार और नैराश्य को दूर कर ये लोकनाट्य आनंदानुभूति का सदैव संबल बनकर उभरते हैं। भारत ही नहीं अपितु वैश्विक स्तर पर लोकनृत्यों और लोकनाट्यों में मुखौटा का साभिप्राय प्रयोग होता आया है जो अपने आप में नाटकीय प्रस्तुति में अर्थ-व्यंजना को गढ़ने के साथ ही लोक-कलाओं के विकसन में भी अपनी सक्रिय भूमिका उपस्थित करता है। मध्यकालीन समय में लोक नृत्य एवं लोकनाट्य परंपरा के कारण ही नाटक-रंगमंच की उपस्थिति में निरंतरता बनी रही और इसी कारण लोक जीवन के मान-मूल्य भी सृजित और स्पंदित होते हैं। मध्यकालीन संत परंपरा में भक्ति आंदोलन के प्रभाव स्वरूप पूर्वोत्तर भारत में धार्मिक आस्था को वैष्णव धर्म के प्रचार-प्रसार के रूप में श्रीमंत शंकरदेव और महापुरुष माधवदेव ने व्यापकता से स्थापित किया। लोक नृत्य और लोक नाटकों की नई शैली के रूप में अंकिया नाट के प्रचलन और स्थापन का पुनीत कार्य महापुरुष माधवदेव जी ने किया। विषय के स्तर पर मुख्यतः कृष्ण चरित्र को आधार बनाया और भाषा-शैली के स्तर पर संस्कृत और जन भाषा के मिश्रित रूप को अपनाते हुए लोक जीवन के लिए सहज एवं सुगम्य ग्राह्यता का रास्ता खोला गया। कुल मिलाकर लोकनाट्य-परंपरा और उसमें प्रयुक्त मुखौटों की सार्थकता अंततः लोकजीवन के कल्याण मार्ग को ही प्रशस्त करने में रही है जिसको एक उचित धारा के रूप में महापुरुष माधवदेव जी ने निरंतर प्रवाहमान रखा।

संदर्भ

1. रामलीला परंपरा और शैलियाँ इन्दुजा अवस्थी, पृ. 22
2. महाराष्ट्र का लोकधर्मी नाट्य-दुर्गा दीक्षित, पृ.11
3. रंग परंपरा भारतीय नाट्य में निरंतरता और बदलाव, नेमिचंद्र जैन, पृ. 10
4. रामलीला परंपरा और शैलियाँ, इन्दुजा अवस्थी, पृ. 15
5. दूसरे नाटक शास्त्र की खोज, देवेन्द्र राजाअंकुर, पृ. 78
6. samvadnews.in
7. rangwimarsh.blogspot.com
8. महाराष्ट्र का लोकधर्मी नाट्य, दुर्गा दीक्षित, पृ. 15
9. वही, पृ. 63
10. रंग-प्रसंग, अप्रैल-जून, 2008, पृ. 48-49
11. रामलीला परंपरा और शैलियाँ, इन्दुजा अवस्थी, पृ. 75
12. www.bbc.com.india 39010967
13. http://Indian culture. gov.in
14. नाट्य समीक्षा, डॉ. दशरथ ओझा, पृ. 81-82
15. वही, पृ. 50
16. वही, पृ. 99
17. abhivyakti.hindi.org/Natak
18. आसाम निवासी पंडित प्रेमसागर गौतम से बातचीत के आधार पर
19. नाट्य समीक्षा, डॉ. दशरथ ओझा, पृ. 104-105

- डॉ. अमित सिंह

सहायक प्रोफेसर, हिंदी विभाग, श्यामलाल कॉलेज,

दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली